ध्वनिविज्ञान [स्वनविज्ञान] | ८

ध्वनि (स्वन) के अध्ययन से सम्बद्ध शास्त्र या विज्ञान के लिए अंग्रेजी में आज प्रमुखतः फ़ोनेटिक्स और फ़ोनॉलॉजी (Phonetics, Phonology) ये दो शब्द चल रहे हैं। स्पष्ट ही दोनों का सम्बन्ध ग्रीक शब्द 'Phone' से है, जिसका अर्थ 'ध्वनि' है। 'टिक्स' और 'लॉजी' प्रयोगतः 'विज्ञान' के समानार्थी हैं। इस प्रकार दोनों ही एक प्रकार से ध्वनि के विज्ञान हैं, किन्तु प्रयोग की दृष्टि से इनमें थोड़ा अन्तर है। 'फ़ोनेटिक्स' में हम सामान्य रूप से ध्वनि की परिभाषा, भाषा-ध्वनि, ध्वनियों के उत्पन्न करने के अंग, ध्वनियों का वर्गीकरण और उनका स्वरूप, उनकी लहरों का किसी के मुँह से चलकर किसी के कान तक जाना तथा सुना जाना एवं उनमें विकार आदि बातों पर विचार करते हैं। साथ ही भाषा-विशेष की ध्वनियाँ, उनका उच्चारण तथा वर्गीकरण आदि भी इसी के अन्तर्गत आता है। 'फ़ोनॉलॉजी' में भाषा-विशेष की ध्वनियों की व्यवस्था, इतिहास तथा परिवर्तन आदि का अध्ययन किया जाता है। यों ध्वनि के अध्ययन के ये दो प्रमुख विभाग तो हैं, किन्तु इनके लिए क्रमशः 'फ़ोनेटिक्स' और 'फ़ोनॉलॉजी' इन दो पारिभाषिक नामों का जो प्रयोग किया गया है, वह सार्वभौम नहीं है। कुछ विद्वानों ने तो उन्हें इस रूप में माना है, किन्तु अन्यों का प्रयोग इससे भिन्न भी है। कुछ लोग दोनों अर्थों में 'फ़ोनेटिक्स' का ही प्रयोग करते हैं, तो कुछ लोग ध्वनि-अध्ययन के वर्णनात्मक रूप (भाषा सामान्य का या एक भाषा का) को एककालिक 'फ़ोनेटिक्स' (Synchronic Phonetics) कहते हैं और ऐतिहासिक रूप को 'हिस्टॉरिकल फ़ोनेटिक्स' या (Diachronic Phonetics)। कुछ अन्य लोग 'फ़ोनॉलॉजी' के अन्तर्गत ही सभी को स्थान देते हैं। कुछ लोग 'फ़ोनेटिक्स' और 'फ़ोनॉलॉजी' को पर्याय के रूप में भी प्रयोग करते रहे हैं, यद्यपि अब ऐसा प्रायः नहीं हो रहा है। आजकल प्रायः 'फ़ोनेटिक्स' का प्रयोग ध्वनि के भाषा-निरपेक्ष अध्ययन के लिए किया जाता है जिसमें सामान्य रूप से ध्वनियों का उच्चारण, वर्गीकरण आदि आते हैं, तो फ़ोनॉलॉजी का प्रयोग भाषा-विशेष की ध्वनियों की व्यवस्था के लिए।

संस्कृत में ध्वनिविज्ञान का पुराना नाम 'शिक्षाशास्त्र' था। हिन्दी में इस प्रसंग में 'फ़ोनेटिक्स' के लिए मुख्यतः ध्वनिविज्ञान, ध्वनिशास्त्र अथवा स्वनविज्ञान आदि तथा 'फ़ोनॉलॉजी' के लिए ध्वनि-प्रक्रिया, स्वन-प्रक्रिया या स्वनिमविज्ञान आदि नाम प्रयुक्त हो रहे हैं। एकरूपता की दृष्टि से फ़ोनेटिक्स के लिए ध्वनिविज्ञान या स्वनविज्ञान और फोनॉलॉजी के लिए ध्वनिप्रक्रिया, स्वनप्रक्रिया या स्वनिमविज्ञान का प्रयोग किया जा सकता है।

ध्वनि-अध्ययन के आधार

इसके तीन आधार हैं—उच्चारण, प्रसरण या संवहन तथा श्रवण। इसी आधार पर ध्वनिविज्ञान की मुख्यतः तीन शाखाएँ मानी जाती हैं—

(१) **औच्चारणिक ध्वनिविज्ञान** (Articulatory Phonetics)—जिसमें उच्चारण और उससे संबद्ध बातों का अध्ययन होता है;

(२) **सांवहनिक या प्रासरणिक ध्वनिविज्ञान** (Acoustic Phonetics)—जिसमें उच्चारण के फलस्वरूप बनने वाली ध्वनि-लहरों का अध्ययन होता है। इस अध्ययन में प्रायः काइमोग्राफ, स्पेक्टोग्राफ, ऑसिलोग्राफ आदि यंत्रों से सहायता ली जाती है;

(३) **श्रावणिक ध्वनिविज्ञान** (Auditory Phonetics)—इसमें ध्वनियों के सुने जाने का अध्ययन होता है।

स्पष्ट ही पहली शाखा का सम्बन्ध बोलने वाले से, तीसरी का सुनने वाले से, और दूसरी का ध्वनियों की वाहिनी तरंगों, उनके स्वरूप तथा गति आदि से, अर्थात् दोनों शाखाओं के बीच की स्थिति से है।

औच्चारणिक ध्वनिविज्ञान (Articulatory Phonetics)

ध्वनियों के उच्चारण वाग्यंत्र (Vocal apparatus) से होता है जिसे **उच्चारण अवयव** (vocal organ) भी कहते हैं—

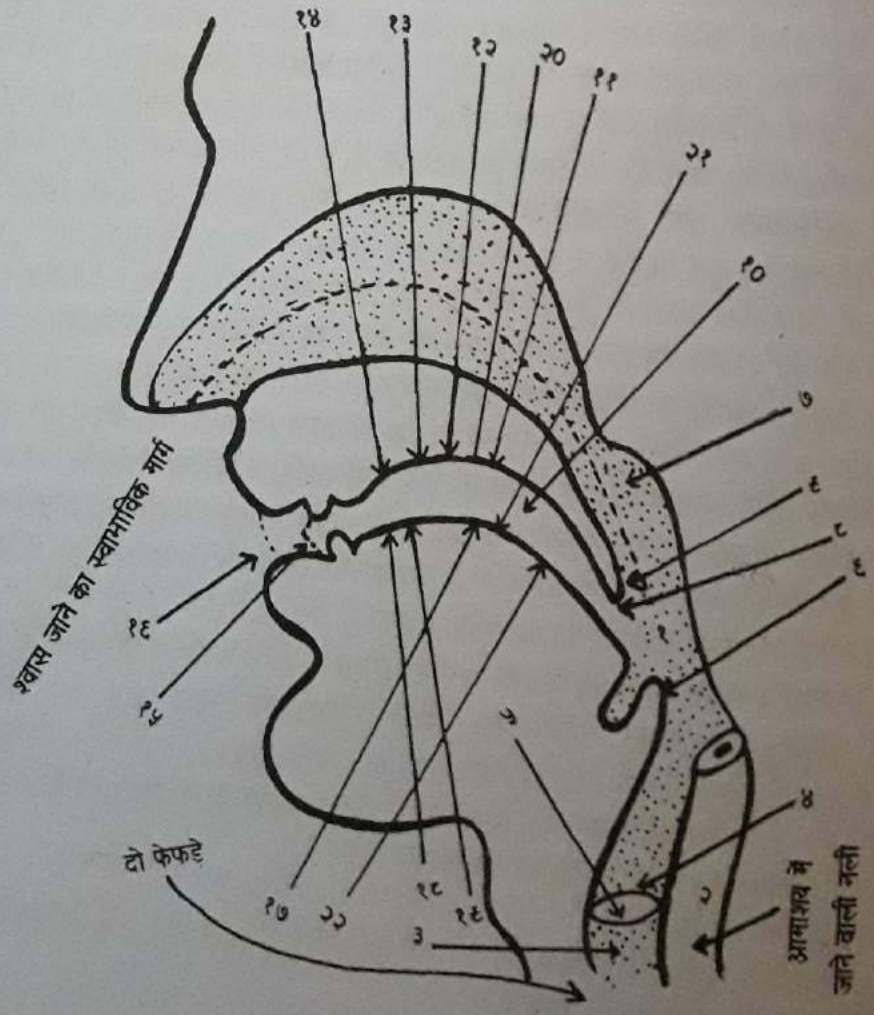

ध्वनि-यंत्र का चित्र

१. उपालिजिह्व (Pharynx, गलबिल, कंठ, कंठमार्ग)
२. भोजन-नलिका (Gullet)
३. स्वर-यंत्र (कंठ-पिटक, ध्वनियंत्र (Larynx)
४. स्वरयंत्र-मुख (काकल : Glottis)
५. स्वर-तंत्री (ध्वनि-तंत्री Vocal Chord)
६. स्वरयंत्र-मुख-आवरण (अभिकाकल, स्वरयंत्रावरण (Epiglottis)
७. नासिका-विवर (Nasal Cavity)
८. मुख-विवर (Mouth Cavity)
९. अलिजिह्व (कौआ, घंटी, शुंडिका Uvula)
१०. कंठ (Gutter)
११. कोमल तालु (Soft Palate)
१२. मूर्द्धा (Cerebrum)
१३. कठोर तालु (Hard Palate)
१४. वर्त्स[1] (Alveola)
१५. दाँत (Teeth)
१६. ओष्ठ (Lip)
१७. जिह्वामध्य (Middle of the tongue)
१८. जिह्वानोक (जिह्वानीक : Tip of the tongue)
१९. जिह्वाग्र (जिह्वा-फलक : Front of the tongue)
२०. जिह्वा (Tongue)
२१. जिह्वापश्च (जिह्वापृष्ठ, पश्च जिह्वा : Back of the tongue)
२२. जिह्वामूल (Root of the tongue)

चित्र में जहाँ नं० ३ में तीर की नोक है, वह श्वास-नलिका (Wind pipe) है। उपर्युक्त अवयव दो वर्गों में रखे जा सकते हैं :

(क) **चल अवयव**—इन अवयवों को ऊपर उठाकर या नीचे ले जाकर ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। इन्हीं को **करण** (articulator) भी कहते हैं। नीचे का ओष्ठ (जबड़े के साथ), जीभ और उसके विभिन्न भाग तथा स्वरतंत्रियाँ इस वर्ग में आती हैं। नीचे के ओष्ठ तथा जीभ मुँह में नीचे के भाग हैं ; अतः उनके आधार पर कभी-कभी केवल निचली स्वरतंत्री को ही करण कहते हैं, किंतु वास्तविकता यह है कि दोनों ही स्वरतंत्रियाँ चल होने के कारण करण का कार्य करती हैं, साथ ही ये उच्चारण-स्थान भी हैं।

(ख) **अचल अवयव**—ऊपर के दाँत, ऊपर का ओष्ठ, तालु के विभिन्न भाग इसके अन्तर्गत आते हैं। ये चल नहीं हैं। इनसे स्थान का बोध होता है। अलिजिह्व या कौवे की स्थिति कुछ अजीब है। यों तो यह चल अवयव है, किन्तु मुँह में ऊपर है और ऊपर के अवयव अचल हैं ; अतः स्थान-संकेतक हैं, इसीलिए इसे भी प्रायः उन्हीं की श्रेणी में रखा जाता है।

श्वास-नलिका, भोजन-नलिका और अभिकाकल—हम प्रतिक्षण नाक के रास्ते से हवा अपने फेफड़े में पहुँचाते रहते हैं। जैसा कि ऊपर के चित्र में दिखलाया गया है। साँस श्वास-नलिका में होती हुई फेफड़े में पहुँचती है और उन्हें स्वच्छ कर वह फिर उसी पथ से बाहर निकल जाती है। श्वास-नलिका के पीछे भोजन-नलिका है जो नीचे आमाशय तक जाती है। इन दोनों (श्वास तथा भोजन) नलिकाओं के बीच में दोनों पृथक् करने के लिए एक दीवाल है। भोजन-नलिका के विवर के साथ श्वास-नलिका की ओर झुकी हुई एक छोटी-सी जीभ है जिसे अभिकाकल[2] या

---

१. वैदिक साहित्य में शुद्ध शब्द 'वर्स्व' है जिससे 'वर्स्व्य' विशेषण बनता है। अब अशुद्ध शब्द 'वर्त्स' तथा उसके विशेषण 'वर्त्स्य' ही प्रचलित हो गये हैं।

२. इस अंग का यों तो बोलने से बहुत सीधा सम्बन्ध नहीं है, किन्तु कुछ ध्वनिविदों के अनुसार मौखिक संगीत में यह कुछ काम करता है। साथ ही आ, ओं के उच्चारणों में यह पीछे खिंचकर स्वर-यंत्रमुख के पास चला जाता है और इ, ए के उच्चारण में यह बहुत आगे खिंच जाता है।

स्वर-यंत्रमुख-आवरण (Epiglottis) कहते हैं। भोजन या पानी जब मुँह के रास्ते भोजन-नलिका के मुख के पास आता है, तो यह अभिकाकल नीचे की ओर झुक कर श्वास-नलिका को बन्द कर देता है और भोजन या पानी आगे सरक कर भोजन-नलिका में चला जाता है। यदि श्वास-नलिका बन्द न हो तो जैसा कि चित्र से स्पष्ट है, भोजन और पानी इसी नलिका में चले जायें और मनुष्य की तुरन्त ही मृत्यु हो जाय। खाते समय कभी-कभी असावधानी के कारण जब अन्न के एक-आध टुकड़े श्वास-नलिका में चले जाते हैं तो बुरी दशा हो जाती है और फेफड़े की हवा शीघ्र ही अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे लौटा देती है। पानी पीते समय भी यदि पानी 'सरक' जाता है तो इसी प्रकार की सुरसुरी आ जाती है। हमारे यहाँ खाते समय बात करना संभवतः इसीलिए वर्जित है, क्योंकि बात करते समय श्वास-नलिका को खुला रखना ही पड़ता है।

भोजन या पानी का स्वाभाविक मार्ग मुँह से होते भोजन-नलिका में है। इसी प्रकार श्वास या वायु का स्वाभाविक पथ नासिका-विवर से होते हुए श्वास-नलिका में है। सभी जानवर इस स्वाभाविक पथ का ही अनुसरण करते हैं, पर मनुष्य मस्तिष्कप्रधान होने के कारण स्वाभाविकता या प्रकृति के विरुद्ध जाता है। यहाँ भी उसने कुछ विशिष्ट अवसरों के लिए भोजन-पानी और श्वास के स्वाभाविक मार्ग का परित्याग कर दिया है। साधू लोग ठोस भोजन तो नहीं, पर दूध और पानी आदि द्रव पदार्थ कभी-कभी नाक से पीते देखे जाते हैं, दूसरी ओर बोलते समय सभी लोग श्वास-नलिका के साथ-साथ मुँह को भी वायु के आने-जाने का मार्ग बना देते हैं जो कि नितान्त अस्वाभाविक है। पशु बोलते भी हैं तो वायु का अधिक भाग उनकी नाक से ही निकलता है। यही कारण है कि उनकी ध्वनि सर्वदा अनुनासिक होती है। हम लोगों की भाषा में भी कभी-कभी कुछ शब्दों में अकारण अनुनासिकता (spontaneous nasalization) आ जाती है (सर्प से साँप या वक्र से बाँका), जो शायद इसी बात को प्रदर्शित करता है कि नाक से बोलना ही हमारे लिए भी अधिक प्रकृत या स्वाभाविक है।

स्वर-यंत्र, स्वर-यंत्रमुख और स्वर-तंत्री—श्वास-नलिका के ऊपरी भाग में अभिकाकल से कुछ नीचे ध्वनि उत्पन्न करने वाला प्रधान अवयव होता है जिसे ध्वनि-यंत्र या स्वरयंत्र कहते हैं। बाहर गले में (दुबले पुरुषों में) जो उभरी घाँटी (टेंटुआ या Adams apple) दिखाई पड़ती है, वह यही है। यहाँ श्वास-नलिका कुछ मोटी होती है। स्वर-यंत्र में पतली झिल्ली के बने दो लचीले परदे या कपाट होते हैं जिन्हें स्वर-तंत्री या स्वर-रज्जु कहते हैं। वस्तुतः इनका यह नाम (Vocal chord) उचित नहीं है। ये ओष्ठ-जैसे होते हैं ; अतः इन्हें 'स्वर-ओष्ठ' कहना अधिक सही है। इन परदों, स्वर-तंत्रियों या स्वर-ओष्ठों के बीच के खुले भाग को स्वर-यंत्रमुख या काकल (glottis) कहते हैं। साँस लेते समय या बोलते समय हवा इसी मुख से होकर बाहर-भीतर जाती है। इन स्वर-तंत्रियों का मूल या प्राकृतिक काम है—बोझ उठाते समय या इसी प्रकार के अन्य कामों के समय हवा को रोक कर हमारी शक्ति और हिम्मत को अपेक्षाकृत बढ़ा देना। किन्तु, अब बोलने में—जो निश्चय ही कृत्रिम या बाद में विकसित है—हम इन स्वर-तंत्रियों के सहारे कई प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं। ऐसा करने के लिए स्वर-तंत्रियों को कभी तो एक-दूसरे के समीप लाना पड़ता है और कभी दूर रखना पड़ता है। जो लोग रुक-रुक कर बोलते या हकलाते हैं, वे किसी शारीरिक या मानसिक कमी के कारण इन स्वर-तंत्रियों को आवश्यकतानुसार उचित मात्रा में खोल या बन्द करने में असमर्थ होते हैं।

स्वर-तन्त्रियों[1] के इस प्रकार समीप आने या दूर हटने से (साथ ही तनने आदि से) कई प्रकार की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। बहुत सूक्ष्मता से देखा जाय तो इन स्थितियों की संख्या लगभग एक दर्जन है जिनमें अधिक महत्त्वपूर्ण निम्नांकित ६-७ हैं—

(१) स्वर-तन्त्रियाँ एक-दूसरी से सबसे अधिक दूर 'श्वास लेने' (inhalation) की स्थिति में होती हैं। इस स्थिति में काकल या स्वर-यंत्रमुख एक पंचभुज की स्थिति में और बहुत अधिक चौड़ा होता है। (आगे चित्र नं० १)

(२) दूसरी स्थिति है प्रश्वास (exhalation) की। साँस निकालते समय स्वर-तन्त्रिका श्वास लेते समय की तुलना में एक-दूसरे के निकट होती हैं और इस प्रकार स्वर-यंत्रमुख कुछ कम चौड़ा हो जाता है। इस स्थिति में स्वर-यंत्रमुख लगभग त्रिभुजाकार होता है (आगे चित्र नं० २)। ऐसी स्थिति में जो प्रश्वास निकलता है, स्वर-तंत्रियों से घर्षण नहीं करता। 'अघोष' ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है।

(३) तीसरी स्थिति में स्वर-तंत्रियाँ एक-दूसरी के और भी निकट आ जाती हैं। अब ये इतनी निकट होती हैं कि उनके बीच से जाने वाली हवा को रगड़ खाकर निकलना पड़ता है। रगड़ के कारण ही स्वर-तन्त्रियों में कम्पन होता है। 'घोष' ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है (चित्र नं० ३)। इस स्थिति में स्वरयंत्रमुख बहुत संकीर्ण हो जाता है और नीचे-ऊपर के किनारों के बन्द होने के कारण लम्बाई में भी वह छोटा हो जाता है। इस स्थिति में भी कभी तो स्वर-तंत्रियाँ कम कड़ी रखी जाती हैं और कभी अधिक। इस प्रकार कभी उनके बीच से हवा कम तेज निकलती है और कभी अधिक। इन दोनों बातों पर तन्त्रियों का कम्पन निर्भर करता है और इस कम्पन के स्वरूप और तेजी पर ध्वनि का आयतन (volume), उनकी तीव्रता (intensity) तथा सुर (pitch) आदि निर्भर करते हैं। सामान्य बोलचाल में पुरुषों में स्वर-तंत्रियों के कम्पन की गति १०६ से १६३ चक्र (cycle) प्रति सेकेंड तथा स्त्रियों में २१८ से ३२६ चक्र प्रति सेकेंड होती है। यों यह कम से कम ४२ चक्र प्रति सेकेंड तथा अधिक से अधिक २०४८ चक्र प्रति सेकेंड हो सकती है। संगीतज्ञ, अभिनेता और अच्छे वक्ता में भावावेश आदि के अनुसार यह कम्पन सामान्य से बहुत अधिक देखा जाता है। १६ मई, १६४३ ई० को चर्चिल का वाशिंगटन में भाषण हुआ था। उनके रेकर्ड का विश्लेषण करने पर पता चला कि भाषण के अधिकांश अंशों में उनकी तन्त्रियों की गति ११५ से २३० के बीच में थी।

(४) चौथी स्थिति में स्वर-तन्त्रियाँ अपने लगभग तीन-चौथाई भाग में तो एक-दूसरी से मिलकर हवा का मार्ग पूर्णतः बन्द कर देती हैं। कोने का केवल एक-चौथाई भाग ही स्वर-यंत्रमुख के रूप में खुला रहता है (चित्र नं० ४)। इसी स्थिति में फुसफुसाहट वाली ध्वनियों का उच्चारण होता है। इस ध्वनि को 'जपित', 'जाप', 'फुसफुस' या 'उपांशु' (Whispered) भी कहते हैं। जब दो मित्र आपस में धीरे-धीरे बात करते हैं, तो इसी प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग करते हैं। स्वर-यन्त्रमुख के बहुत छोटा हो जाने के कारण ध्वनि धीमी हो जाती है। फुसफुसाहट की सभी ध्वनियाँ अघोष होती हैं। इनके उच्चारण में स्वर-तन्त्रियों में कम्पन नहीं होता। वस्तुतः जपित ध्वनि के उत्पन्न होने की यह एक स्थिति है। इसके अतिरिक्त निम्नांकित अन्य स्थितियाँ भी होती हैं—(क) कभी-कभी इनके उच्चारण

---

१. स्वर-तंत्रियाँ जब ढीली रहती हैं तो सामान्यतः पुरुषों में उनकी लम्बाई ३/४" और स्त्रियों में १/२" होती है। तनकर कड़ा होने पर ये क्रमशः १" और ३/४" की हो जाती हैं।

में स्वर-तन्त्रियाँ ठीक उसी स्थिति में होती हैं जिस स्थिति में वे घोष ध्वनियों को उत्पन्न करती हैं। पर साथ ही गले की मांसपेशियों को बहुत कड़ा रखकर स्वर-तन्त्रियों में इतना तनाव ला दिया जाता है कि हवा के घर्षण से वे कम्पित नहीं होतीं और इस प्रकार उनसे जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, जपित होती हैं। (ख) स्वर-तंत्रियों के ऊपर उन्हीं जैसी दूसरी स्वर-तन्त्रियाँ भी होती हैं जिन्हें मिथ्या या कृत्रिम स्वर-तंत्रियाँ (false vocal chords) कहते हैं। ये असली स्वर-तन्त्रियों से कुछ छोटी होती हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि असली स्वर-तन्त्रियाँ तो दूर-दूर रहती हैं, किन्तु ऊपर की तंत्रियाँ निकट आकर हवा के रास्ते को बहुत छोटा कर देती हैं और इस स्थिति में भी 'जपित' ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। (ग) कभी-कभी स्वर-तंत्रियाँ सामान्य स्थिति में हों, लेकिन उनके बीच से आने वाली हवा बहुत थोड़ी और बहुत धीमी (बीमारी के कारण या सप्रयास) हो, तब भी फुसफुसाहट की ध्वनियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। (घ) एक चौथी स्थिति यह भी मानी जाती है जब स्वर-तंत्रियाँ न तो अघोष की स्थिति में बहुत खुली होती हैं और न घोष की स्थिति में काकल को इतना सँकरा बना देती हैं कि हवा रगड़ से निकले। यह स्थिति घोष-अघोष के बीच की है तथा असामान्य है। (ङ) बिथेल आदि कुछ ध्वनिशास्त्रियों ने एक ऐसी स्थिति भी मानी है जब दोनों ही स्वर-तंत्रियाँ (मिथ्या और यथार्थ) अधिकांशतः बन्द होकर हवा को रोकती हैं और केवल दोनों का एक-एक अंश ही खुला रहता है। जब बहुत फटी-फटी आवाज सुनाई पड़ती है, तब भी यही स्थिति रहती है। ध्वनिविदों के अनुसार, यह स्थिति देर तक नहीं रखी जा सकती।

(५) एक अन्य स्थिति में स्वर-तंत्रियाँ एक कोने से दूसरे कोने तक पूर्णतः सटी रहती हैं और हवा का रास्ता पूर्णतः बन्द हो जाता है (आगे चित्र नं० ५)। इसी स्थिति में रहकर झटके के साथ स्वर-तंत्रियाँ अलग हो जाती हैं तो काकल्य स्पर्श (glottal stop, glottal catch, अलिफ़, हम्ज़ा) नाम की ध्वनि उच्चरित होती है जिसके लिए P चिह्न का प्रयोग किया जाता है। भारतीय भाषाओं में यह मुंडारी में मिलती है। कुछ अफ्रीकी, हिब्रू, डच, जर्मन में यह ध्वनि सामान्य है। यह हल्की खाँसी में मिलती-जुलती ध्वनि है। अंग्रेज़ी में कभी-कभी जोर देकर बोलने में is के उच्चारण में इ के पहले यह ध्वनि सुनाई पड़ती है। The key is not in the door वाक्य में इज़ की इ के पूर्व key के प्रभाव के कारण यह ध्वनि उच्चरित होती है।

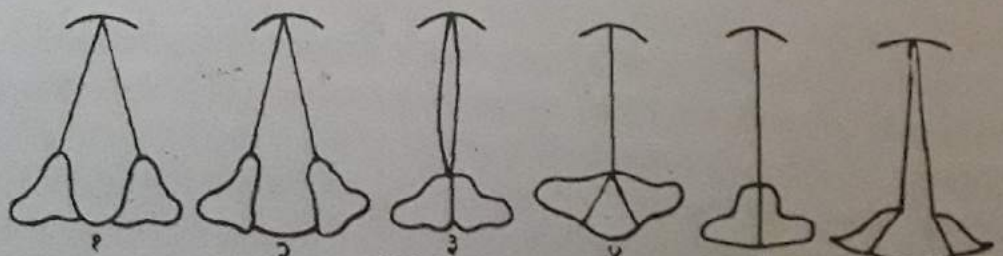

स्वरतंत्रियों की कुछ प्रमुख स्थितियाँ

(६) छठे प्रकार की स्थिति में स्वर-तंत्रियों का लगभग तीन-चौथाई भाग तो लगभग घोष की स्थिति में होता है और शेष एक-चौथाई काफी खुला (ऊपर चित्र नं० ६)। घोष (जिसमें घोषत्व के साथ महाप्राणता भी होती है) ध्वनि इस स्थिति में उच्चरित होती है।

(७) सातवें प्रकार की स्थिति घोष वाली स्थिति ही है, किन्तु यह अलग इसलिए है कि

स्वर-तंत्रियाँ घोष की तुलना में इसमें इतनी होती हैं जिसके कारण कम्पन्न अधिक नहीं होता, किन्तु ये जपित-जैसी स्थिति में अर्थात् पूर्णतः तनी नहीं होतीं। इस रूप में इसे घोष और जपित के बीच की स्थिति मान सकते हैं। मर्मर ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है। इसमें कम्पन बहुत थोड़ा होता है, साथ ही रगड़-जैसी एक आवाज भी होती है।

इन ६-७ स्थितियों में प्रमुख ये चार हैं—

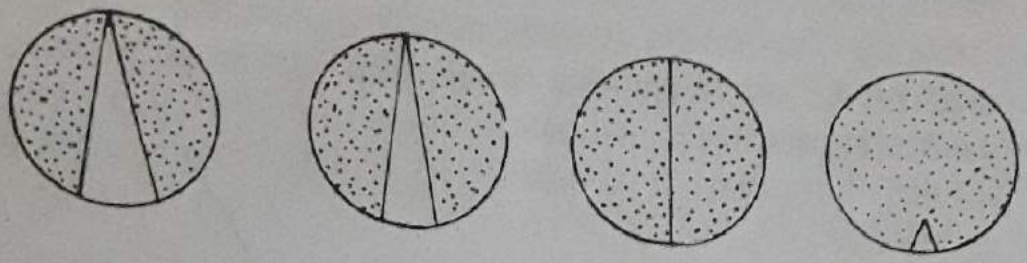

[क] [ख] [ग] [घ]

क में दोनों स्वरतन्त्रियाँ अलग-अलग हैं। यह साँस लेने की तथा अघोष ध्वनियों की स्थिति है। ख में दोनों समीप हैं। यह घोष ध्वनियों की स्थिति है। ग में दोनों एक-दूसरे से सटी हैं। यह बन्द हो जाने की स्थिति है। 'घ' में दोनों ३/४ भाग में सटी हैं और नीचे केवल १/४ खुला है। यह जपित या फुसफुसाहट की स्थिति है। अघोष उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियों में (उनके एक-दूसरे से दूर रहने के कारण) प्रश्वास का घर्षण नहीं होता और इसलिए उनमें कम्पन्न नहीं होता। साँस निकलने की स्थिति में उत्पन्न होने के कारण ही इस प्रकार की ध्वनियों को संस्कृत में 'श्वास' भी कहा गया है। अंग्रेजी में इन ध्वनियों को voiceless या breathed कहते हैं। 'घोष' या 'नाद' (voiced या voice) उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियों में उनके एक-दूसरे से निकट होने के कारण, उनके बीच से आती हवा के घर्षण से, कम्पन होता है। कानों को दोनों हाथों से बन्द करके या गले पर (स्वरयंत्र पर) हाथ रखकर या सिर के ऊपर हाथ रखकर इस कम्पन का अनुभव कम से अघोष-घोष (क, ग) और घोष-अघोष (ग, क) ध्वनियों का बार-बार उच्चारण करके किया जा सकता है।

इस प्रकार स्वर-यंत्र स्वर-तंत्रियों और मिथ्या स्वर-तंत्रियों के सहारे ध्वनियों के उच्चारण में पर्याप्त काम करता है। वस्तुतः यही वह पहला ध्वनि-अवयव है जहाँ प्रश्वास के सहारे ध्वनि उत्पन्न करना आरम्भ होता है। साथ ही किसी भाषा की कोई भी ध्वनि ऐसी नहीं है जिसके निर्माण में इस अंग का हाथ न हो।

स्वर-यंत्र, स्वर-तंत्रियों के सहारे ही नहीं, अपितु अपने पूरे शरीर के साथ, अर्थात् पूरा स्वर-यंत्र भी ध्वनियों के निर्माण में सहायता देता है। अफ्रीका की कई भाषाओं में पायी जाने वाली अंतर्मुखी या अंतःस्फोट (implosive) ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं। उच्चारण में पूरा ध्वनियंत्र कुछ नीचे कर लिया जाता है।

मुख-विवर, नासिका-विवर और कौवा—स्वर-यंत्र के ऊपर उसका ढक्कन (अभिकाकल) होता है जिसके सम्बन्ध में हम ऊपर विचार कर चुके हैं। उसके ऊपर वह स्थान आता है जिसे हम चौराहा (crossing) कह सकते हैं। यह एक खाली स्थान है, जहाँ से चार मार्ग (१) श्वास-नलिका, (२) भोजन-नलिका, (३) मुख-विवर, और (४) नासिका-विवर) चारों ओर जाते हैं। जिस प्रकार इस चौराहे के बीच अभिकाकल है, उसी प्रकार ऊपर जीभ के स्वरूप का मांस का छोटा-सा भाग उस

स्वर-तंत्रियाँ घोष की तुलना में इसमें इतनी होती हैं जिसके कारण कम्पन्न अधिक नहीं होता, किन्तु ये जपित-जैसी स्थिति में अर्थात् पूर्णतः तनी नहीं होतीं। इस रूप में इसे घोष और जपित के बीच की स्थिति मान सकते हैं। मर्मर ध्वनियों का उच्चारण इसी स्थिति में होता है। इसमें कम्पन बहुत थोड़ा होता है, साथ ही रगड़-जैसी एक आवाज भी होती है।

इन ६-७ स्थितियों में प्रमुख ये चार हैं—

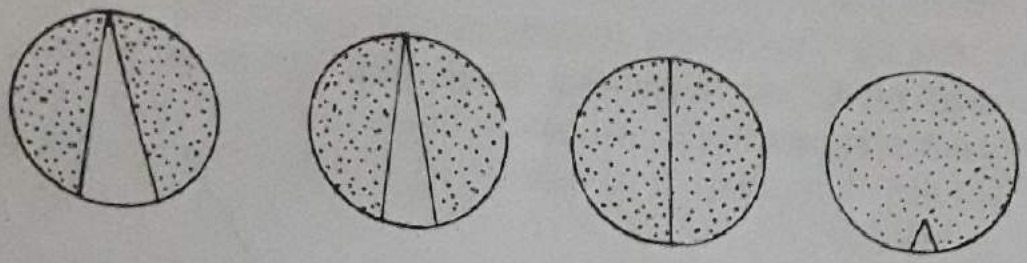

[क] [ख] [ग] [घ]

क में दोनों स्वरतन्त्रियाँ अलग-अलग हैं। यह साँस लेने की तथा अघोष ध्वनियों की स्थिति है। ख में दोनों समीप हैं। यह घोष ध्वनियों की स्थिति है। ग में दोनों एक-दूसरे से सटी हैं। यह बन्द हो जाने की स्थिति है। 'घ' में दोनों ३/४ भाग में सटी हैं और नीचे केवल १/४ खुला है। यह जपित या फुसफुसाहट की स्थिति है। अघोष उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियों में (उनके एक-दूसरे से दूर रहने के कारण) प्रश्वास का घर्षण नहीं होता और इसलिए उनमें कम्पन्न नहीं होता। साँस निकलने की स्थिति में उत्पन्न होने के कारण ही इस प्रकार की ध्वनियों को संस्कृत में 'श्वास' भी कहा गया है। अंग्रेजी में इन ध्वनियों को voiceless या breathed कहते हैं। 'घोष' या 'नाद' (voiced या voice) उन ध्वनियों को कहते हैं जिनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियों में उनके एक-दूसरे से निकट होने के कारण, उनके बीच से आती हवा के घर्षण से, कम्पन होता है। कानों को दोनों हाथों से बन्द करके या गले पर (स्वरयंत्र पर) हाथ रखकर या सिर के ऊपर हाथ रखकर इस कम्पन का अनुभव कम से अघोष-घोष (क, ग) और घोष-अघोष (ग, क) ध्वनियों का बार-बार उच्चारण करके किया जा सकता है।

इस प्रकार स्वर-यंत्र स्वर-तंत्रियों और मिथ्या स्वर-तंत्रियों के सहारे ध्वनियों के उच्चारण में पर्याप्त काम करता है। वस्तुतः यही वह पहला ध्वनि-अवयव है जहाँ प्रश्वास के सहारे ध्वनि उत्पन्न करना आरम्भ होता है। साथ ही किसी भाषा की कोई भी ध्वनि ऐसी नहीं है जिसके निर्माण में इस अंग का हाथ न हो।

स्वर-यंत्र, स्वर-तंत्रियों के सहारे ही नहीं, अपितु अपने पूरे शरीर के साथ, अर्थात् पूरा स्वर-यंत्र भी ध्वनियों के निर्माण में सहायता देता है। अफ्रीका की कई भाषाओं में पायी जाने वाली अंतर्मुखी या अंतःस्फोट (implosive) ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं। उच्चारण में पूरा ध्वनियंत्र कुछ नीचे कर लिया जाता है।

मुख-विवर, नासिका-विवर और कौवा—स्वर-यंत्र के ऊपर उसका ढक्कन (अभिकाकल) होता है जिसके सम्बन्ध में हम ऊपर विचार कर चुके हैं। उसके ऊपर वह स्थान आता है जिसे हम चौराहा (crossing) कह सकते हैं। यह एक खाली स्थान है, जहाँ से चार मार्ग (१) श्वास-नलिका, (२) भोजन-नलिका, (३) मुख-विवर, और (४) नासिका-विवर) चारों ओर जाते हैं। जिस प्रकार इस चौराहे के बीच अभिकाकल है, उसी प्रकार ऊपर जीभ के स्वरूप का मांस का छोटा-सा भाग उस

स्थान पर होता है, जहाँ से नासिका-विवर और मुख-विवर के रास्ते फूटते हैं। इस छोटी जीभ को 'कौवा' या अलिजिह्व कहते हैं। इसका भी कार्य कोमल तालु के साथ अभिकाकल की भाँति कभी-कभी मार्ग अवरुद्ध करना है।

कौवा को कोमल तालु के साथ हम तीन अवस्थाओं में पाते हैं। पहली तो इसकी स्वाभाविक और साधारण अवस्था है जिसमें यह ढीला होकर नीचे की ओर लटका रहता है, मुँह बन्द रहता है और श्वास अबाध गति से नासिका-विवर से होकर आता-जाता है। स्वाभाविक रूप से श्वास लेने की अवस्था यही होती है। किसी की बात सुनकर जब हम मुँह को बिना खोले हुए 'हूँ' कहते हैं, तो वह इसी दशा में उच्चरित होती है।

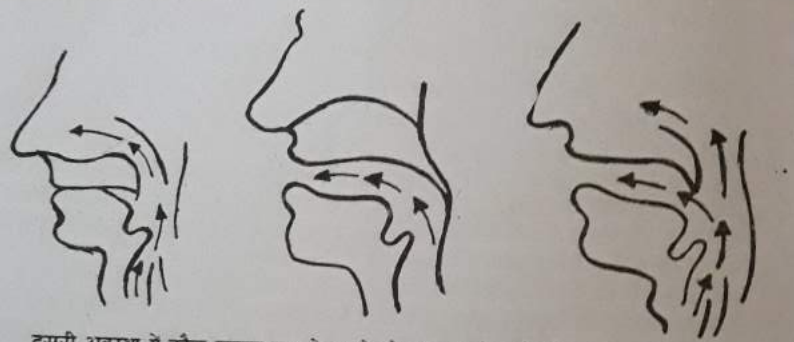

दूसरी अवस्था में कौवा तनकर नाक के रास्ते को बन्द कर देता है और श्वास-नलिका से आयी हवा को नासिका-विवर में तनिक भी नहीं जाने देता, अतः वायु मुख-विवर से आती-जाती है। मौखिक स्वरों और व्यंजनों का उच्चारण इसी दशा में होता है।

तीसरी और अंतिम अवस्था उस समय की है जब कौवा न तो ऊपर तनकर नासिका-विवर को रोकता है और न नीचे गिर कर मुख-विवर को। वह मध्य में रहता है, अतः श्वास नासिका और मुख दोनों से होकर निकलता है। अनुनासिक स्वरों का उच्चारण इसी अवस्था में होता है।

उपर्युक्त तीन स्थितियों में दूसरी और तीसरी में कौवा भाषा-ध्वनियों के उच्चारण में बहुत सहायक होता है, क्योंकि अधिकांश ध्वनियाँ इन्हीं दो प्रकारों की होती हैं। किन्तु यह तो कौवे का सामान्य कार्य है जिसकी आवश्यकता अधिकांश भाषाओं में होती है। कुछ भाषाओं में यह विशेष प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण में प्रत्यक्षतः भी सहायक होता है। इस प्रकार की ध्वनियाँ अलिजिह्वीय (uvular) कहलाती हैं। इनके उच्चारण में कौवा या तो जिह्वापश्च (या जिह्वामूल) से स्पर्श करके (हिन्दी-उर्दू 'क़', या उसी का घोष रूप जो फ़ारसी में है) स्पर्श-ध्वनि उत्पन्न करता है, या एस्किमो भाषा का अनुनासिक स्पर्श (ङ) उत्पन्न करता है, या उसके समीप होकर संघर्षी ध्वनि (हिन्दी, अरबी ख़, ग़) उत्पन्न करता है, या फिर उत्क्षेप या लुंठन करके फ्रांसीसी 'र' ध्वनि (जो 'ग़' जैसी सुनाई पड़ती है) उत्पन्न करता है।

तालु, जिह्वा, दन्त और ओष्ठ—कौवे के एक ओर नासिका-विवर है और दूसरी ओर मुख-विवर। नासिका-विवर में और कोई भी ऐसा अंग नहीं है जिससे ध्वनि उत्पन्न करने में कुछ

सहायता मिले, अतः उसे छोड़कर मुख-विवर पर विचार किया जा सकता है।

मुख-विवर में ऊपर की ओर तालु है जिसके कंठ-स्थान और दाँतों के बीच में क्रम से ४ भाग हो सकते हैं—१. कोमल तालु २. मूर्द्धा, ३. कठोर तालु तथा ४. वर्त्स। जिह्वा के विभिन्न भागों को इनसे स्पर्श कराकर विभिन्न ध्वनियाँ उच्चरित की जाती हैं।

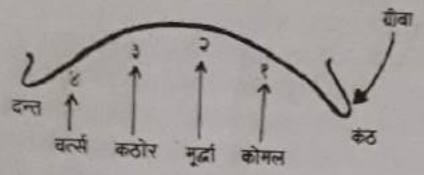

मुख-विवर के निचले भाग में जिह्वा है। जिह्वा उच्चारण-अवयवों में सबसे प्रमुख है, इसी कारण इसके पर्याय 'वाणी', 'जबान' (अरबी) या Lingua (लैटिन) आदि भाषा के पर्याय बन गये हैं। प्रायः सभी भाषाओं की अधिकांश ध्वनियाँ जीभ की सहायता से ही बोली जाती हैं। साधारण अवस्था में जीभ नीचे ढीली पड़ी होती है। बोलने में वायु-अवरोध या विशेष आकृति का गूँज-विवर (resonance chamber) बनाने के लिए हम इसका प्रयोग करते हैं। जिह्वा को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है।

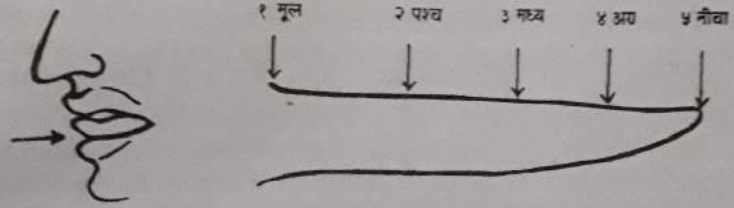

कभी-कभी इनके 'जिह्वोपाग्र' (जिह्वा मध्य से कुछ आगे) आदि अन्य अवांतर भेद भी किये जाते हैं। ध्वनि-उच्चारण में इन सभी भागों का अलग-अलग महत्त्व साथ ही अभिकाकल कौवे की भाँति जिह्वा की विभिन्न अवस्थाएँ भी होती हैं। इन सब का सविस्तार वर्णन ध्वनियों के वर्गीकरण के प्रसंग में मिलेगा। जीभ दाँत तथा तालु के विभिन्न भागों को छूकर या उनके समीप आकर या उत्क्षेप-लोड़न आदि करके ध्वनियों का निर्माण करती है।

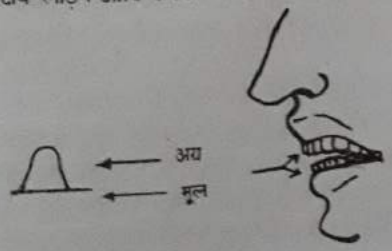

मुख-विवर में तालु तथा जिह्वा के बाद तीसरे प्रधान अंग दाँत हैं जो भोजन करने के अतिरिक्त बोलने में भी हमारी सहायता करते हैं। इनके भी—(१) मूल और (२) अग्र ये दो भाग किये जा सकते हैं।

कभी-कभी दांतों के बीच में एक मध्य भाग भी मानने की आवश्यकता पड़ती है।

है और उनके आधार पर प्रत्येक भाषा के लिए सुव्यवस्थित वैज्ञानिक लिपि तैयार की जाती है।

इसके अन्तर्गत इस प्रकार अध्ययन किया जाता है—

(1) इस विज्ञान में जिस भाषा का अध्ययन अपेक्षित है, उसके प्राचीन और वर्तमान शब्दों का विभिन्न स्रोतों से संकलन करके, उन शब्दों को 'ध्वन्यात्मक लिपि' (Phonetic Alphabet) में लिखा जाता है। संकलन करते समय यह भी अध्ययन किया जाता है कि कौन ध्वनि स्वर तथा कौन व्यंजन है।

(2) इसके बाद यह अध्ययन किया जाता है कि इन ध्वनियों में कौन ध्वनि-ग्राम है और कौन संध्वनियाँ (Allophones) हैं।

(3) स्वनिम (ध्वनिग्राम) और उपस्वन (संध्वनि) का निर्धारण ही इसका प्रमुख कार्य है।

(4) स्वर और व्यंजन ध्वनियों का उस भाषा में प्रयुक्त संयोग तथा अनुक्रम प्राप्य खण्ड्येतर स्वनिमों—अनुतान, बलाघात, दीर्घता, अनुनासिकता तथा संहिता की व्यवस्था का प्रदर्शन।

(5) रूपिमों के संयोग से होने वाले स्वनिमिक परिवर्तन आदि स्वनिमिक व्यवस्था की प्रस्तुति।

स्वनिम (ध्वनिग्राम) तथा उपस्वन (संध्वनि)

स्वनिम के स्वरूप के विषय में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद हैं।

(1) **लियोनार्ड ब्लूमफील्ड** (Leonard Bloomfield) और **डेनियल जोन्स** (Daniel Johns) आदि इसे भौतिक इकाई मानते हैं—

"The phonemes of a language are not sounds but morely sound features lumped together."

(किसी भाषा में उपलब्ध ध्वनिग्राम, ध्वनियाँ नहीं होते, अपितु वे ध्वनि-वैशिष्ट्यों के समूह होते हैं और उन्हें विभेदक ध्वनि-वैशिष्ट्यों की लघुतम इकाई कह सकते हैं।)

(2) **ग्लीसन** का मत है—

"A phoneme is a class of sounds which are phonetically similar and show certain characteristic pattern of distribution to the language."

(ध्वनिग्राम ध्वन्यात्मक दृष्टि से समान ध्वनियों का एक वर्ग होता है, जिनके द्वारा भाषा में विभेद का विशिष्ट आधार प्रस्तुत किया जाता है।)

(3) **बी-ब्लोक** का मत है—

"A phoneme is a class of phonetically similar sounds, contrasting and mutually exclusive with all similar classes in the language."

(स्वनिम भाषा की वह लघुतम इकाई है, जो समान ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करती है। यह अन्य ध्वनियों से भिन्न होती है, जिनका सम्बन्ध किसी भाषा-विशेष से होता है।)

स्वनिम के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करते हुए **डॉ० कपिलदेव द्विवेदी** ने लिखा है—जिन परिस्थितियों में एक स्वनिम आता है, ठीक उन्हीं परिस्थितियों में दूसरा स्वनिम नहीं आता। प्रत्येक स्वनिम स्वतन्त्र एक ही संकेत से संकेतित किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक सार्थक ध्वनि के लिए स्वतन्त्र संकेत होते हैं। उच्चारण स्थान और प्रयत्न की समानता के आधार पर स्वनिमों का निर्धारण किया जाता है। डॉ० द्विवेदी ने इसकी विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—

है और उनके आधार पर प्रत्येक भाषा के लिए सुव्यवस्थित वैज्ञानिक लिपि तैयार की जाती है।

इसके अन्तर्गत इस प्रकार अध्ययन किया जाता है—

(1) इस विज्ञान में जिस भाषा का अध्ययन अपेक्षित है, उसके प्राचीन और वर्तमान शब्दों का विभिन्न स्रोतों से संकलन करके, उन शब्दों को 'ध्वन्यात्मक लिपि' (Phonetic Alphabet) में लिखा जाता है। संकलन करते समय यह भी अध्ययन किया जाता है कि कौन ध्वनि स्वर तथा कौन व्यंजन है।

(2) इसके बाद यह अध्ययन किया जाता है कि इन ध्वनियों में कौन ध्वनि-ग्राम है और कौन संध्वनियाँ (Allophones) हैं।

(3) स्वनिम (ध्वनिग्राम) और उपस्वन (संध्वनि) का निर्धारण ही इसका प्रमुख कार्य है।

(4) स्वर और व्यंजन ध्वनियों का उस भाषा में प्रयुक्त संयोग तथा अनुक्रम प्राप्य खण्ड्येतर स्वनिमों—अनुतान, बलाघात, दीर्घता, अनुनासिकता तथा संहिता की व्यवस्था का प्रदर्शन।

(5) रूपिमों के संयोग से होने वाले स्वनिमिक परिवर्तन आदि स्वनिमिक व्यवस्था की प्रस्तुति।

स्वनिम (ध्वनिग्राम) तथा उपस्वन (संध्वनि)

स्वनिम के स्वरूप के विषय में विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद हैं।

(1) **लियोनार्ड ब्लूमफील्ड** (Leonard Bloomfield) और **डेनियल जोन्स** (Daniel Johns) आदि इसे भौतिक इकाई मानते हैं—

"The phonemes of a language are not sounds but morely sound features lumped together."

(किसी भाषा में उपलब्ध ध्वनिग्राम, ध्वनियाँ नहीं होते, अपितु वे ध्वनि-वैशिष्ट्यों के समूह होते हैं और उन्हें विभेदक ध्वनि-वैशिष्ट्यों की लघुतम इकाई कह सकते हैं।)

(2) **ग्लीसन** का मत है—

"A phoneme is a class of sounds which are phonetically similar and show certain characteristic pattern of distribution to the language."

(ध्वनिग्राम ध्वन्यात्मक दृष्टि से समान ध्वनियों का एक वर्ग होता है, जिनके द्वारा भाषा में विभेद का विशिष्ट आधार प्रस्तुत किया जाता है।)

(3) **बी-ब्लोक** का मत है—

"A phoneme is a class of phonetically similar sounds, contrasting and mutually exclusive with all similar classes in the language."

(स्वनिम भाषा की वह लघुतम इकाई है, जो समान ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करती है। यह अन्य ध्वनियों से भिन्न होती है, जिनका सम्बन्ध किसी भाषा-विशेष से होता है।)

स्वनिम के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करते हुए **डॉ० कपिलदेव द्विवेदी** ने लिखा है—जिन परिस्थितियों में एक स्वनिम आता है, ठीक उन्हीं परिस्थितियों में दूसरा स्वनिम नहीं आता। प्रत्येक स्वनिम स्वतन्त्र एक ही संकेत से संकेतित किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक सार्थक ध्वनि के लिए स्वतन्त्र संकेत होते हैं। उच्चारण स्थान और प्रयत्न की समानता के आधार पर स्वनिमों का निर्धारण किया जाता है। डॉ० द्विवेदी ने इसकी विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—

स्वनिम की विशेषताएँ

(1) स्वनिम या फोनीम किसी भाषा की लघुतम अखण्ड्य इकाई होता है। जैसे—अ, इ, क, च, ट, त, प् आदि। यह एक जाति या श्रेणी है।

(2) स्वनिम समान ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करता है। एक ही ध्वनि यदि अनेक प्रकार से उच्चरित होती है तो स्वनिम एक ही होगा। इसके संस्वन या संध्वनि (एलोफोन) अनेक हो सकते हैं।

(3) स्वनिम में अर्थ-परिवर्तन की शक्ति होती है। जैसे—काल, गाल, लाल में क्, ग्, ल् स्वतन्त्र स्वनिम हैं। अत: इनके भेद से अर्थों में अन्तर हो जाता है।

(4) स्वनिम समीपवर्ती ध्वनियों से प्रभावित होते हैं। जैसे—लाल, लूट, उल्टा में 'ल्' ध्वनि। लाल में 'ल्', 'आ' के कारण कण्ठ-स्थान से प्रभावित है। 'लू' में 'ऊ' के कारण जीभ कुछ आगे आती है और उल्टा में 'ट्' के कारण जीभ प्रतिवेष्टित होती है। इस प्रकार तीनों 'ल्' के उच्चारण में अन्तर है।

(5) स्वनिमों में ध्वन्यात्मक समानता (Phonetic Similarity) की ओर प्रवृत्ति होती है। इसके आधार पर किसी भाषा-विशेष की ध्वनियों के निर्धारण में सहायता मिलती है। जैसे—किसी भाषा में क्, ग्, च्, ज्, ट्, ड्, त्, प्, ब् मिलते हैं। इनके विवेचन से ज्ञात होता है कि इस भाषा-विशेष में स्पर्श व्यंजनों में अघोष स्पर्श के साथ घोष स्पर्श भी हैं। ऊपर दिये वर्णों में क्, च्, ट् और प् के घोष वर्ण ग्, ज्, ड् और ब् हैं, किन्तु त् का घोष वर्ण द् गायब है। ध्वन्यात्मक साम्य की प्रवृत्ति के आधार पर यह निर्णय किया जायेगा कि इस भाषा में द् ध्वनि भी होनी चाहिए। सम्भवत: श्रोता की त्रुटि के कारण ट् को भी त् समझ लिया गया है।

(6) स्वनिमों की प्रवृत्ति परिवर्तन (Fluctuation) की ओर होती है। कोई भी मनुष्य किसी एक ध्वनि का ठीक उसी प्रकार दुबारा उच्चारण नहीं कर सकता है। बाद के उच्चारण में कुछ-न-कुछ भेद रहता है। इस परिवर्तन के कारण कुछ भाषाओं में त् और द् या ट् और ड् ध्वनियाँ परिवर्तनीय हो सकती हैं। अन्य भाषाओं के श्रोता इन ध्वनियों का अन्तर सुनकर ज्ञात कर सकते हैं।

(7) प्रत्येक भाषा में ध्वनि-क्रम (Sound-sequence) होते हैं। एक विशेष योजना के साथ ध्वनियों का क्रम होता है। इसके आधार पर संदिग्ध स्थान पर स्वर या व्यंजन का निर्णय किया जाता है। यदि किसी भाषा में व्यंजन-स्वर का क्रम है और कहीं पर तृतीय वर्ग संदिग्ध है, तो वहाँ पर व्यंजन की स्थिति मानी जायेगी।

(8) स्वनिम दो प्रकार के हैं—खण्ड्य (Segmental) और अखण्ड्य (Supra-segmental)। खण्ड्य में स्वर और व्यंजन आते हैं, क्योंकि इनको पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। अखण्ड्य में मात्रा, सुर, बलाघात, संगम, अनुनासिक आदि हैं। अत: केवल स्वरों और व्यंजनों को ही स्वनिम समझना त्रुटिपूर्ण है।

कुछ स्थानों पर स्वच्छन्द परिवर्तन (Free Variation) भी होता है। उन स्थानों पर बिना किसी अर्थ-परिवर्तन के दो ध्वनियों में से एक का प्रयोग किया जा सकता है। हिन्दी में उर्दू आदि के क, ख, ग के स्थान पर क, ख, ग का प्रयोग प्रचलित है। जैसे—ग़रीब को गरीब, बुख़ार को बुखार। इनको स्वच्छन्द परिवर्तन माना जायेगा। इसी प्रकार संस्कृत की कुछ ध्वनियों को लोकभाषा में विकृत रूप में बोला जाता है। इससे भी अर्थ-परिवर्तन नहीं होता है। जैसे—य को ज-जमान=यजमान। ष् को ख—षटकोण=खट्कोण, ज्ञ का ग्य—ज्ञान=ग्यान। इनको भी स्वच्छन्द परिवर्तन माना जायेगा।

संध्वनि या संस्वन (Allophones)

जहाँ समान भाषण-ध्वनियों का वर्ग ध्वनिग्राम कहलाता है, वहीं किसी एक ध्वनिग्राम में व्यवहृत समान भाषण-ध्वनियाँ 'संध्वनियाँ' कहलाती हैं। एक ध्वनिग्राम में अनेक ऐसी संध्वनियाँ होती हैं, जो ध्वन्यात्मक दृष्टि से समान होती हैं, जो अर्थ-भेदकता में असमर्थ होती हैं और वे या तो परस्पर परिपूरक होती हैं या मुक्त वितरण में होती हैं। जैसे—'थ्' एक ध्वनिग्राम है। परन्तु यह 'थ्' कहीं किसी शब्द के आदि में आ सकता है (जैसे—थान), कहीं मध्य में आ सकता है (जैसे—हथौड़ा) और कहीं अन्त में आ सकता है (जैसे—हाथ)। ऐसे ही कभी यह दो स्वरों के मध्य आ सकता है, कभी इसके पार्श्ववर्ती स्वर ह्रस्व, दीर्घ, ह्रस्व-दीर्घ या दीर्घ-ह्रस्व हो सकते हैं, कभी वे अग्र, पश्च आदि हो सकते हैं, कभी यह 'थ्' एकाक्षरी या अनेकाक्षरी शब्दों में आ सकता है। प्रत्येक स्थिति में यह उच्चारण की दृष्टि से परिवर्तित होता रहता है, क्योंकि प्रत्येक परिवर्तित स्थिति के साथ इसका

एक पृथक् एवं विशिष्ट ध्वनि के रूप में उच्चारण किया जाता है। इस तरह एक ही ध्वनिग्राम 'थ' अपनी अनेकानेक परिवर्तित स्थितियों के साथ जब पृथक्-पृथक् एवं विशिष्ट भाषण-ध्वनियों के रूप में आता है, तब ये भाषण-ध्वनियाँ 'संध्वनियाँ' कहलाती हैं, जो ध्वन्यात्मक दृष्टि से समान होती हैं, अर्थ-भेदकता में भी असमर्थ होती हैं और वे आपस में या तो परिपूरक होती हैं या मुक्त वितरण में होती हैं।

ध्वनिग्राम और संध्वनियों का अन्तर

(1) स्वनिम (ध्वनिग्राम) की सत्ता मानसिक होती है तथा उपस्वन (संध्वनि) की सत्ता भौतिक। उदाहरणार्थ—लो, ले, ला शब्दों के उच्चारण पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायगा कि इनके उच्चारण-स्थान एक-दूसरे से कुछ-कुछ भिन्न हैं, परन्तु उच्चारण और श्रवण ल ध्वनि का ही होता है। इस प्रकार ल् स्वनिम है तथा उसके विभिन्न रूप (ल, ला, ले, लो आदि) उपस्वन (संध्वनियाँ) हैं।

(2) स्वनिम जाति होती है, उपस्वन व्यक्ति। उदाहरणार्थ—ल् जाति है और इसके विभिन्न रूप व्यक्ति हैं।

(3) किसी भाषा के स्वनिम अपने वितरण में एक-दूसरे के विरोधी होते हैं, जबकि उपस्वन (संध्वनि) पूरक होते हैं। उदाहरणार्थ—ल, ला, ले, लो में मतैक्य है अर्थात् अ, आ, ए, ऐ से पूर्व ल् आएगा—यह एक निश्चित व्यवस्था है। भाषा-विज्ञान में इसे परिपूरक वितरण नाम दिया जाता है, परन्तु काला, जाला, नीला आदि में एक-दूसरे के आगे-पीछे न आ सकने का कोई प्रतिबन्ध नहीं हैं। अतः वे विरोधी या व्यतिरेकी हैं।

(4) स्वनिम अननुमेय अर्थात् अनुमान से परे के हैं। यहाँ अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि कौन-सा स्वनिम कहाँ जायेगा, जबकि अनुस्वन परिपूरक वितरण के कारण अनुमेय होते हैं।

(5) स्वनिम अर्थभेदक होते हैं, उपस्वन नहीं होते। उदाहरणार्थ—लाली के स्थान पर काली कहने से अर्थ बदल जाता है, परन्तु 'ल' का उच्चारण किसी भी रूप—ल, ल्, ळ में किये जाने पर अर्थ में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं आता।

(6) किसी भाषा में ध्वनिग्राम तो ध्वन्यात्मक दृष्टि से परस्पर नहीं मिलते, परन्तु किसी ध्वनिग्राम की संध्वनियाँ ध्वन्यात्मक दृष्टि से परस्पर मिलती-जुलती होती हैं।

(7) किसी भी ध्वनिग्राम (स्वनिम) का भाषा में विशेष महत्व होता है, जबकि संध्वनियाँ उतनी महत्वपूर्ण नहीं होतीं।

ध्वनिग्राम के भेद—ध्वनिग्राम के निम्नलिखित भेद स्वीकार किये गये हैं—

(1) **खंड्य ध्वनिग्राम (स्वनिम)** (**Segmental Phonemes**)—इसके अन्तर्गत वे ध्वनियाँ आती हैं, जिन्हें पृथक्-पृथक् बोला जा सकता है तथा स्वतन्त्र रूप से भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके दो भेद होते हैं—(1) स्वर ध्वनिग्राम, (2) व्यंजन ध्वनिग्राम। **डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना** के अनुसार स्वर ध्वनिग्राम के भी भेद हैं, और व्यंजन ध्वनिग्राम के भी, जो इस प्रकार हैं—

(अ) (i) **केन्द्रीय स्वरग्राम**—ये दस हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ।

(ii) **अकेन्द्रीय स्वरग्राम**—यह एक है—ऑ।

(ब) (i) **केन्द्रीय व्यंजनग्राम**—इसमें सभी व्यंजन आते हैं।

(ii) **अकेन्द्रीय व्यंजनग्राम**—क़, ख़, ग़, ज़, फ़।

(2) **खंड्येतर ध्वनिग्राम या अखंड्य स्वनिम**—जिनका उच्चारण स्वतन्त्र रूप से नहीं हो सकता जो अपने उच्चारण के लिए खंड्य ध्वनिग्राम पर निर्भर होते हैं। ये इस प्रकार हैं—

(i) **दीर्घता**—इसे अंग्रेजी में लैन्थ (Length) भी कहा जाता है। हिन्दी में व्यंजनों की दीर्घता प्रायः ध्वनिग्रामिक ही होती है। यथा—बचा=बच्चा, पिला=पिल्ला, पता=पत्ता आदि।

(ii) **अनुनासिकता**—हिन्दी में स्वरों की अनुनासिकता को भी ध्वनिग्रामिक ही माना जाता है। यथा—पूछ=पूँछ, गोद=गोंद, सास=साँस आदि।

(iii) **बलाघात**—अंग्रेजी में इसे स्ट्रेस (Stress) कहा जाता है। जहाँ बलाघात होता है, वहाँ भी ध्वनिग्राम ही होता है। यथा—रोको मत, जाने दो। रोको, मत जाने दो।

(iv) **अनुतान (Intonation)**–इसे ही 'सुरलहर' भी कहा जाता है । इसका प्रभाव वाक्य के स्तर पर देखा जाता है, यथा–

राम चला गया ।	साधारण वाक्य
राम चला गया ?	प्रश्नवाचक वाक्य
राम चला गया !	विस्मयबोधक वाक्य

(v) **संगम (Juncture)**–जहाँ विरोधी युग्म मिलते हैं । यथा–पी ली=पीली, खा ली=खाली, हम हरि-हम्हरि ।

स्वनिम-विज्ञान की उपयोगिता

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी (भाषा-विज्ञान एवं भाषाशास्त्र) ने इसकी उपयोगिता का उल्लेख इस प्रकार किया है–

(1) स्वनिम-विज्ञान भाषा-शिक्षण की सरलतम वैज्ञानिक पद्धति है । इसमें प्रत्येक भाषा की प्रचलित वर्णमाला पर ध्यान न देकर केवल मूल ध्वनियों को नोट किया जाता है । इस प्रकार प्रत्येक भाषा में मूल ध्वनियों की संख्या सीमित रह जाती है और उन पर सरलता से अधिकार करके नवीन भाषा को सरलतम ढंग से सीखा जा सकता है ।

(2) स्वनिम-विज्ञान के विश्लेषणों से सिद्ध हुआ है कि विश्व की भाषाओं में कम से कम 15 से लेकर अधिक से अधिक 60 स्वनिम पाये जाते हैं । सामान्य रूप से 30 स्वनियों का औसत है । इनके शुद्ध ज्ञान से सम्यक् भाषा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ।

(3) ध्वनि-विज्ञान (फोनेटिक्स) के द्वारा संग्रहीत सामग्री का स्वनि-विज्ञान में व्यावहारिक उपयोग होता है । संगृहीत ध्वनियों में से स्वनिमों का संकलन किया जाता है । फोनेटिक्स समुद्र है तो फोनेमिक्स उसमें से निकाले गये रत्न हैं । इन रत्नों की माला (स्वनिम-माला) ही प्रत्येक भाषा का सर्वस्व है ।

(4) स्वनिम-विज्ञान भाषाशास्त्र को एक नवीन व्यावहारिक दृष्टिकोण देता है । यह भाषा के असार अंश को छोड़कर सार-भाग ग्रहण करने की शिक्षा देता है और अनावश्यक विस्तार के स्थान पर सूत्र-रूप में कार्य-निर्वाह की विधि बताता है ।

(5) स्वनिम-विज्ञान भाषाशास्त्र की नींव है । भाषाशास्त्र के सभी अंग—पद-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान आदि स्वनिम के ज्ञान पर ही निर्भर हैं । स्वनिम-समूह ही पद बनता है और पद-समूह वाक्य । इस प्रकार स्वनिम-विज्ञान पद, वाक्य और अर्थ का बोध करने के कारण भाषाशास्त्र की आधारशिला है ।

(6) स्वनिम-विज्ञान ही आदर्श वर्णमाला या लिपि के निर्माण में समर्थ है । विश्व की सभी भाषाओं के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय लिपि स्वनिम-विज्ञान के आधार पर ही सम्भव है, जिसमें एक ध्वनि के लिए एक ही संकेत हो तथा एक लिपि-संकेत से एक ध्वनि या स्वनिम का बोध हो।

स्वनिम-विज्ञान के प्रवर्तक के रूप में **महर्षि पाणिनि** का नाम सादर लिया जा सकता है। इन्होंने माहेश्वर सूत्रों के रूप में संस्कृत के स्वनिमों का सर्वांगीण संग्रह किया है । महर्षि पाणिनि की पद्धति आज भी विश्व के भाषाशास्त्रियों के लिए आदर्श एवं ग्राह्य है ।

स्वनिम गठन की प्रक्रिया एवं हिन्दी में स्वनिमों की चर्चा

प्रश्न 14–स्वनिम गठन की प्रक्रिया का उल्लेख तथा हिन्दी के स्वनिमों की चर्चा करते हुए, संस्कृत और हिन्दी में स्वनिमीय गठन को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए ।

उत्तर–स्वनिम गठन में स्वनिमों की एक ऐसी सूची तैयार की जाती है, जिसमें प्रत्येक स्वनिम का निश्चित कार्य निर्धारित होता है । यह सूची अनेक प्रकार से बन सकती है । जैसे–(1) **घोष-अघोष संध्वनियों के आधार पर**, (2) **स्थान के आधार पर**–कण्ठ्य, तालव्य, ओष्ठ्य आदि । (3) **प्रयत्न के आधार पर**–स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट आदि, (4) **ओष्ठ की आकृति के आधार पर**–वृत्तमुखी, अवृत्तमुखी आदि ।

सूची बनाने के बाद स्वनिमों को विशेष स्थान या परिस्थिति के अनुसार तथा संयुक्ताक्षरों के अनुसार वर्गीकृत रूप से प्रस्तुत किया जाता है । इस प्रक्रिया में एक स्थान पर एक विशेष परिस्थिति में आने वाले समस्त स्वनिमों

को एकत्र किया जाता है। ये स्वनिम एक-दूसरे स्वनिमों से पृथक् या विरोधी होते हैं। इस गुढात्मक वर्ग के लिए डॉ० कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार यह पद्धति अपनाई जाती है—(1) आदि, मध्य या अन्त में स्थिति, (2) दो स्वरों या दो व्यंजनों के बीच में स्थिति, (3) स्वर और व्यंजन के बीच में स्थिति, (4) विभिन्न ध्वनियों के साथ संयुक्त होना, (5) सुर, बलाघात आदि की विशेषता।

ब्लाख के अनुसार अंग्रेजी भाषा में ल् (L) से पहले 6 व्यंजन, र् (R) से पहले 9 व्यंजन और व् (W) से पहले 7 व्यंजन आते हैं।

इस प्रकार अंग्रेजी में 22 व्यंजन स्वनिम माने जाते हैं। इसी प्रकार संयुक्त व्यंजन स्वनिमों की संख्या 48 है। जैसे—/PL/KL/BL/ आदि।

संस्कृत और हिन्दी में स्वनिमीय गठन

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—स्वनिमीय गठन की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत में 10 स्वर-स्वनिम तथा 32 व्यंजन-स्वनिम हैं, योग 42 है। हिन्दी में 10 स्वर-स्वनिम तथा 31 व्यंजन-स्वनिम, योग 41 है।

स्वनिमीय गठन में इस बात का भी संकलन किया जाता है कि आदि, मध्य और अन्त में कौन-से स्वनिम आते हैं ? कौन-से स्वनिम किसी स्थान-विशेष पर आते हैं। उदाहरण के लिए, क-वर्ग को लेकर कह सकते हैं कि क्, ख्, ग्, घ् स्वनिम आदि, मध्य, अन्त तीनों स्थानों पर आते हैं। जैसे—

/क्/	कर	मकान	नाक
/ख्/	खर	मखाना	नख
/ग्/	गिरि	नगर	आग
/घ्/	घर	सघन	मेघ

इसी प्रकार संस्कृत और हिन्दी में कहा जा सकता है कि ल् ध्वनि से पहले 6 व्यंजन और र् से पहले 15 व्यंजन आते हैं। जैसे—

ल् संयुक्त			र् संयुक्त		
कल्	क्लेश	क्र्	क्रम	फ्र्	फ्रांसीसी
ग्ल्	ग्लानि	ख्र्	ख्रिष्ट	ब्र्	ब्रह्म
प्ल्	प्लुत	ग्र्	ग्राम	भ्र्	भ्रम
म्ल्	म्लान	घ्र्	घ्राण	व्र्	व्रत
श्ल	श्लोक	त्र्	त्रिकोण	श्र्	श्री
ह्ल	प्रह्लाद	द्र्	द्रव्य	स्र्	स्रोत
		ध्र्	ध्रुव	ह्र्	ह्रस्व
		प्र्	प्राण		

हिन्दी में स्वनिम की विवेचना इस प्रकार की गयी है—

(1) **स्वर स्वनिम**—हिन्दी में दस स्वर स्वनिम है—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ।

(2) **व्यंजन स्वनिम**—ये हिन्दी में 30 हैं।

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने इनका विश्लेषण इस प्रकार किया है—

(1) **हिन्दी के सामान्य स्वर-स्वनिम**—ये आठ हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ।

(2) **मिश्रित स्वर-स्वनिम**—ये दो हैं—ऐ, औ। क्योंकि ए = आ + इ, ओ = अ + उ। ऐ और औ को स्वतन्त्र स्वनिम मानना आवश्यक है। इनको ए और ओ का संस्वन नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इनके स्थान-भेद और अर्थ-भेद हैं। जैसे—चेला—चैला, मेल—मैल, रेल—रैल, कोन—कौन, ओर—और, मोर—मौर।

हिन्दी स्वर-स्वनिमों का विश्लेषण

डॉ० कपिलदेव के अनुसार—(क) हिन्दी में अ, इ, उ का मूल स्वर एवं आ, ई, ऊ को उनका दीर्घीकृत रूप मानकर उनको स्वतन्त्र न मानना उचित नहीं। स्थान-भेद और अर्थ-भेद के कारण इन तीन दीर्घ स्वरों को

को एकत्र किया जाता है। ये स्वनिम एक-दूसरे स्वनिमों से पृथक् या विरोधी होते हैं। इस गुढात्मक वर्ग के लिए डॉ० कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार यह पद्धति अपनाई जाती है—(1) आदि, मध्य या अन्त में स्थिति, (2) दो स्वरों या दो व्यंजनों के बीच में स्थिति, (3) स्वर और व्यंजन के बीच में स्थिति, (4) विभिन्न ध्वनियों के साथ संयुक्त होना, (5) सुर, बलाघात आदि की विशेषता।

ब्लाख के अनुसार अंग्रेजी भाषा में ल् (L) से पहले 6 व्यंजन, र् (R) से पहले 9 व्यंजन और व् (W) से पहले 7 व्यंजन आते हैं।

इस प्रकार अंग्रेजी में 22 व्यंजन स्वनिम माने जाते हैं। इसी प्रकार संयुक्त व्यंजन स्वनिमों की संख्या 48 है। जैसे—/PL/KL/BL/ आदि।

संस्कृत और हिन्दी में स्वनिमीय गठन

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—स्वनिमीय गठन की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत में 10 स्वर-स्वनिम तथा 32 व्यंजन-स्वनिम हैं, योग 42 है। हिन्दी में 10 स्वर-स्वनिम तथा 31 व्यंजन-स्वनिम, योग 41 है।

स्वनिमीय गठन में इस बात का भी संकलन किया जाता है कि आदि, मध्य और अन्त में कौन-से स्वनिम आते हैं ? कौन-से स्वनिम किसी स्थान-विशेष पर आते हैं। उदाहरण के लिए, क-वर्ग को लेकर कह सकते हैं कि क्, ख्, ग्, घ् स्वनिम आदि, मध्य, अन्त तीनों स्थानों पर आते हैं। जैसे—

/क्/	कर	मकान	नाक
/ख्/	खर	मखाना	नख
/ग्/	गिरि	नगर	आग
/घ्/	घर	सघन	मेघ

इसी प्रकार संस्कृत और हिन्दी में कहा जा सकता है कि ल् ध्वनि से पहले 6 व्यंजन और र् से पहले 15 व्यंजन आते हैं। जैसे—

ल् संयुक्त			र् संयुक्त		
कल्	क्लेश	क्र्	क्रम	फ्र्	फ्रांसीसी
ग्ल्	ग्लानि	ख्र्	ख्रिष्ट	ब्र्	ब्रह्म
प्ल्	प्लुत	ग्र्	ग्राम	भ्र्	भ्रम
म्ल्	म्लान	घ्र्	घ्राण	व्र्	व्रत
श्ल	श्लोक	त्र्	त्रिकोण	श्र्	श्री
ह्ल	प्रह्लाद	द्र्	द्रव्य	स्र्	स्रोत
		ध्र्	ध्रुव	ह्र्	ह्रस्व
		प्र्	प्राण		

हिन्दी में स्वनिम की विवेचना इस प्रकार की गयी है—

(1) **स्वर स्वनिम**—हिन्दी में दस स्वर स्वनिम है—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ।

(2) **व्यंजन स्वनिम**—ये हिन्दी में 30 हैं।

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने इनका विश्लेषण इस प्रकार किया है—

(1) **हिन्दी के सामान्य स्वर-स्वनिम**—ये आठ हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ।

(2) **मिश्रित स्वर-स्वनिम**—ये दो हैं—ऐ, औ। क्योंकि ए = आ + इ, ओ = अ + उ। ऐ और औ को स्वतन्त्र स्वनिम मानना आवश्यक है। इनको ए और ओ का संस्वन नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इनके स्थान-भेद और अर्थ-भेद हैं। जैसे—चेला—चैला, मेल—मैल, रेल—रैल, कोन—कौन, ओर—और, मोर—मौर।

हिन्दी स्वर-स्वनिमों का विश्लेषण

डॉ० कपिलदेव के अनुसार—(क) हिन्दी में अ, इ, उ का मूल स्वर एवं आ, ई, ऊ को उनका दीर्घीकृत रूप मानकर उनको स्वतन्त्र न मानना उचित नहीं। स्थान-भेद और अर्थ-भेद के कारण इन तीन दीर्घ स्वरों को

भी स्वतन्त्र स्वनिम मानना आवश्यक है । अ—आ, इ—ई और उ—ऊ में उच्चारण स्थान में भेद है, अर्थ भेद भी है—मन—मान, हर—हार, चिर—चीर, उठि (उठकर)—उठी, धुल—धूल, पुर—पूर, सुना—सूना ।

(ख) स्वर स्वनिमों में ऋ, अं, अः को नहीं लिया गया है । हिन्दी में ये उच्चारण की दृष्टि से स्वतन्त्र स्वनिम न होकर संयुक्त ध्वनियाँ हैं । ऋ=र्+इ, अं=अ+ङ, अ+म्, अः=अ+ह । ऋ को र का संस्वन और अं अः को अ का संस्वन माना जाएगा ।

हिन्दी व्यंजन स्वनिम–डॉ० कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार–

(क) व्यंजन स्वनिमों में क्ष, त्र, ज्ञ को नहीं लिया गया है । ये भी स्वतन्त्र स्वनिम न होकर संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ हैं । क्ष=क्+ष्, त्र=त्=र्, ज्ञ=ज्+ञ ।

(ख) हिन्दी में अंग्रेजी के तुल्य केवल अल्पप्राण व्यंजन ध्वनियाँ (क, ख, च, ज् आदि) को ही स्वनिम मानकर अल्पप्राण ह से काम नहीं चलाया जा सकता है । हिन्दी में अल्पप्राण और महाप्राण व्यंजन स्वतन्त्र स्वनिम हैं । इनमें अर्थभेद और उच्चारण में समय-भेद है । जैसे—कान—खान, गिरता—घिरना, चना—छना, तान—थान, पेट—फेट, बात—भात, अबीर—अभीर (अहीर) ।

(ग) हिन्दी में ञ स्वतन्त्र स्वनिम न होकर न् का संस्वन हैं ।

(घ) हिन्दी में ष् भी स्वतन्त्र स्वनिम नहीं है । यह श् का संस्वन हैं । ट-वर्ग पूर्व संयुक्त व्यंजन ष के रूप में दुष्ट, इष्ट, पुष्ट, क्लिष्ट आदि । अन्यत्र श् रहता है । शब्द के आदि में (षट्कोण आदि) में इसका उच्चारण श् के सदृश है ।

(ङ) हिन्दी में क़, ख़, ग़, ज़, फ़, व् को स्वतन्त्र स्वनिम नहीं माना जा सकता । ये क्रमशः क, ख के संस्वन हैं । ये मूलतः हिन्दी ध्वनियाँ नहीं हैं । विदेशी शब्दों के उच्चारण के लिए इन ध्वनियों का आविर्भाव हुआ है ।

(च) ड़ और ढ़ स्वतन्त्र स्वनिम नहीं हैं । ये ड और ढ के संस्वन हैं । ड आदि, मध्य और अन्त तीनों जगह पाया जाता है, ड़ मध्य तथा अन्त में जैसे—डरना, झंडा, अंडा, खड्ड; अड़ना, लड़ना, पहाड़, झाड़ । इसी प्रकार ढ आदि में और मध्य में संयुक्त व्यंजन के रूप में पाया जाता है, ढ़ मध्य और अन्त में । जैसे—ढोल, **ढाल**, ढील, गड्ढा, चड्ढा, पढ़ना, चढ़ना, ओढ़ना, गढ़ ।

(छ) अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण में ऑ ध्वनि मिलती है । जैसे—डॉग (Dog), डॉक्टर (Doctor), कॉलेज (College), पॉट (Pot) इसको अ का ही संस्वन मानना चाहिए । यह हिन्दी में डॉग, डॉक्टर आदि रूप में भी लिखा जाता है ।

ध्वनि-विज्ञान और स्वनिम-विज्ञान में अन्तर

प्रश्न 15–ध्वनि (Sound) और स्वनिम (ध्वनिग्राम) (Phonemes) में अन्तर बताते हुए ध्वनि-विज्ञान (Phonetics) और स्वनिम-विज्ञान (Phonemics) के अन्तर को स्पष्ट कीजिए ।

उत्तर–डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने ध्वनि और स्वनिम के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है–

(1) ध्वनि एक भौतिक घटना-मात्र है । यह भाषा-निरपेक्ष है । स्वनिम (ध्वनिग्राम) भाषा-सापेक्ष और सार्थक ध्वनिगत भेद है ।

(2) ध्वनियाँ स्थान, प्रयत्न आदि भेद से असंख्य हैं । स्वनिमों की संख्या भाषा-विशेष के आधार पर 15 से लेकर 60 तक ही है । किसी भी भाषा में 60 से अधिक स्वनिम नहीं हैं ।

(3) ध्वनि का उच्चारण नहीं होता है, स्वनिम का उच्चारण होता है । स्वनिम जातिरूप में विद्यमान रहता है ।

(4) ध्वनि इकाई है, स्वनिम ध्वनि-समूह का वाचक है । एक स्वनिम के अन्तर्गत आने वाले ध्वनि समूह में उच्चारण की दृष्टि से समानता होती है ।

(5) मानसिक प्रक्रिया में स्वनिम (ध्वनिग्राम) रहते हैं, ध्वनि नहीं । यद्यपि बोलने और सुनने में ध्वनि का ही प्रयोग होता है, परन्तु बोलने से पूर्व मानसिक चिन्तन में और सुनने के बाद मानसिक ग्रहण में स्वनिम ही रहते हैं । ध्वनि ध्वनिग्राम का व्यंजक है और ध्वनिग्राम शब्दार्थ के समन्वित रूप का ...